तेरापंथी युवक संघ का प्रमुख प्रकाशन

संघ-माला



बालदीक्षा की अनर्थकारी प्रथा सारे जैन समाज को लज्जित करनेवाली है, गिराने वाली है। यह धर्म के नाम अधर्म और पुण्य के स्थान पर पाप को फैलानेवाली है। संसार की भलाई के लिए सर्वस्व समर्पण करने वाले जैन साधु अगर समाज, देश और धर्म की भलाई के लिए इस प्रथा को सदा के लिए दफना दें, तो क्या हरज है ?

प्रकाशक :—

मन्त्री, तेरापंथी युवक संघ,

लाडनूं (मारवाड़)

बालदीक्षा और जैनसाधु



जैनदीक्षा कठोरतम व्रत है। उसका अर्थ है अपने ऐश आराम तथा शरीर की चिन्ता छोड़ कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाना। जैनसाधु केवल शरीर रक्षा के लिए भोजन करता है और धर्माराधन के लिए शरीर की रक्षा करता है। अच्छे, बुरे, स्वादिष्ट अथवा बेस्वाद से उसे कोई वास्ता नहीं। दूसरी वस्तुओं की बात ही क्या जो शरीर पर भी ममत्व रखता है, वह जैनसाधु नहीं है। साधारण व्यक्ति तो साधुचर्या को सुन कर ही घबरा उठता है।

बिना किसी अपवाद के जीवनपर्यन्त पूर्ण अहिंसा का पालन करना हंसी खेल नहीं है। मन में किसी के प्रति बुरे विचार आए और अहिंसाव्रत में दोष लगा। इसी प्रकार पूर्ण सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप महाव्रतों का पालन करना तलवार की धार पर चलना है। बाईस परिषदों को सहना, स्नान न करना, अग्नि न तापना, केश लुंचन करना, सदा पैदल बिहार करना, नंगे सिर और नंगे पांव रहना, पास में एक भी पैसा न रखना, खाद्य सामग्री को भी दूसरे दिन के लिए न बचाना आदि ऐसी क्रियायें हैं जिनमें बड़े-बड़े दृढ़ निश्चय वाले भी घबरा उठते हैं। बोलना, चालना, खाना, पीना आदि प्रत्येक कार्य में जैनसाधु को विवेक रखने की आवश्यकता होती है। जरा-सी लापरवाही की और दोष लगा। आहार के ४७ दोष टालना आजकल के साधुओं के लिए असम्भव-सा है।

इस प्रकार का आचार चिरकालीन अभ्यास के बाद बिरले

ही पाल सकते हैं। आजकल के छोटे-छोटे बच्चे तो इसे समझ भी नहीं सकते। उनसे मुनिजीवन की आशा अंगुली से पहाड़ उठाने के समान है। उन्हें दीक्षा देकर साधुसमाज बालकों का जीवन नष्ट करने के साथ-साथ अपनी अवनति का गहरा गड्ढा खोद रहा है।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि साधुवर्ग स्वार्थान्ध न बने, दीक्षार्थी तथा समाज के हित को खयाल में रखे, अथवा शास्त्रों का तात्पर्य समझ कर चले तो बालदीक्षा एक दम रुक जाय। दीक्षार्थी की योग्यता, क्रमिक अभ्यास तथा दूसरी बातों के विषय में शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं, किन्तु स्वार्थान्ध साधु उस समय बहरे बन जाते हैं।

दशवैकालिन सूत्र में लिखा है---

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ।
तया गईं बहुविहं, सव्वं जीवाण जाणइ॥
जया गइं बहुविहं, सव्वं जीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ॥
जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ।
तया निविंदए भोए, जे दिव्वे जेय माणुसे॥
जया निव्वदए भोए, जे दिव्वे जे या माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं बाहिरं॥
जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरं बाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं॥

दशवैकालिन अ० ४ गा० १३

अर्थात्---जब कोई प्राणी जीव और अजीव इन दो तत्वों को जान लेता है और जीवों की विविध प्रकार की गति आगति को जान जाता है, उसके बाद गति आगति के कारण पर विचार

करने से पुण्य पाप और बन्धमोक्षका ज्ञान हो जाता है। इन सबका ज्ञान होने पर देव तथा मनुष्य भव में प्राप्त होने वाले सुखों से निर्वेद अर्थात् वैराग्य हो जाता है। इसके बाद वह कुटुम्ब-कबीले आदि के बाह्य तथा मिथ्यात्व कषाय आदि के आभ्यन्तर संयोगों को छोड़ता है। इन संयोगों को छोड़ने के बाद वह मुण्डित होकर अनगार बनता है।

इन गाथाओं में साधु बनने की सीढ़ी का क्रमिक वर्णन किया गया है। नौ दस वर्ष के बालक को इतना ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

जैन शास्त्रों में विवाह की अवस्था के लिए लिखा है—

'नवंग सुत्त पडिबोहिया अलं भोग समत्था'

ज्ञाता धर्मकथांग १ ज्ञात

अर्थात्—जिस व्यक्ति के सोए हुए नौ अंग (दो कान, दो आंख, दो नाक, जिह्वा, स्पर्शेन्द्रिय और मन) जग गए हों, तथा भोगों को भोगने में समर्थ हो गए हों वहीं विवाह योग्य माना जाता है। बाल्यावस्था में ये अंग सोए रहते हैं और युवावस्था आते ही जाग उठते हैं। उस समय सांसारिक विषयों की ओर अभिलाषा होने लगती है। मन उनकी ओर दौड़ने लगता है। शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से यह बात सत्य है कि अंगों का प्रबोध एक खास अवस्था में जाकर होता है। अङ्ग सोए रहने के कारण बच्चे को भोगों की अभिलाषा नहीं होती। उसे उनका ज्ञान भी नहीं होता।

अब प्रश्न यह होता है कि बालक को जिस बात का ज्ञान ही नहीं है क्या वह उसका त्याग कर सकता है। इसके लिए भगवती सूत्र ७ शतक २ उद्देश में लिखा है—

से नूणं भंते सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्व-

सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवइ, दुपच्चक्खायं भवइ।

"गोयमा सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं जाव सिय दुपच्चक्खायं भवइ।"

से केणट्ठेणं एव वुच्चइ, सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं जाव सिय दुपच्चक्खायं भवइ ?

गोयमा! जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स णो एवं अभिसमण्णामयं भवइ, इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा, तस्स णं सव्वपाणेहिं सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स नो सुपत्रमत्तयं भवइ, दुपच्चक्खायं भवइ। एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वहमाणे नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ। एवं खलु से मुसावाई सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजय-अविरयत-अपडिहय-अपच्चक्खाय पापकम्मे सकिरिये, असम्वुडे, एगंतदण्डे, एगंतवाले या वि भवइ।

हे भगवन्! जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंने सब प्राण, भूत, जीव और सत्वों को मारने का त्याग किया है, उसके सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान ?

"हे गौतम! इस प्रकार कहने वाले के सुप्रत्याख्यान भी हो सकता है और दुष्प्रत्याख्यान भी।"

भगवन्! उसके कथंचित् दुष्प्रत्याख्यान क्यों कहा गया है ?

गौतम! समस्त प्राण भूत आदि की हिंसा का मैंने त्याग कर दिया है, ऐसा कहने पर भी जो व्यक्ति जीव, अजीव, चर और स्थावर को नहीं पहिचानता उसके दुष्प्रत्याख्यान होता है।

इस प्रकार से दुष्प्रत्याख्यान करने वाला यदि अपने को त्यागी कहता है तो वह सत्य नहीं बोल रहा है। वह मिथ्या भाषण कर रहा है। वह व्यक्ति तीन करण, तीन योग से अर्थात् सर्वथा असंयत है, अविरत है। उसने पापकर्मों को नष्ट नहीं किया है, न त्यागा है। वह पापक्रिया वाला है, असंवृत है, एकान्त दण्ड अर्थात् पाप का भागी है। एकान्त बाल अर्थात् अज्ञान है।"

भगवती सूत्र के उपरोक्त पाठ में स्पष्ट लिखा है कि अज्ञान व्यक्ति का त्याग ढोंग है। यदि वह अपने को त्यागी कहता है तो मिथ्याभाषी है। वह किसी भी प्रकार से त्यागी नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख होने पर भी अज्ञान बालक को दीक्षा का अधिकारी मान लेना स्वार्थवश शास्त्र और लोक दोनों मर्यादाओं का लोप करना है। जो व्यक्ति जिस बात को समझता ही नहीं वह उसका त्याग कैसे कर सकता है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं है कि जीव किसे कहते हैं वह जीवहिंसा का त्यागी नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसे भोगों का पता ही नहीं है वह भोगों का त्यागी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयइ पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिन्नइ बंधणं से॥
आउत्तया जस्स न अत्थि काइ, इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेव दुगुंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं।
चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे।
चिरं पि अप्पाणं किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए॥
पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अहमग्घए होइ हु जाणएसु॥
कुसीललिंगं इह धारयित्ता, इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजय लप्पमाणे विणिग्घायमागच्छइ से चिरं पि॥

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥
उत्त० २० अध्ययन ३९-४४ गाथा।

भावार्थ—जो व्यक्ति साधु बन कर प्रमादवश महाव्रतों का ठीक पालन नहीं करता। आत्मा को वश में न रखता हुआ रसों में आसक्त रहता है वह संसार बन्धन को नहीं काट सकता। ईर्षा आदि पांच समितियों के विषय में जो विवेक नहीं रखता वह भगवान् महावीर के मार्ग को प्राप्त नहीं करता। ऐसा व्यक्ति भी चिरकाल से सिर मुँडाने पर भी व्रतों में स्थिर नहीं हो पाता, और तप नियमों से भ्रष्ट हो जाता है। लम्बे समय तक अपनी आत्मा को दुखी करने पर भी वह संसार समुद्र से पार नहीं उतरता। जिस प्रकार पोली मुट्ठी असार होती है, उसमें कुछ नहीं होता। अथवा खोटा सिक्का वैदूर्य के समान प्रकाशवाली काचमणि समझदार व्यक्तियों में मूल्य प्राप्त नहीं करते, इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने इन्द्रियदमन नहीं किया है उसका साधु होना निःसार है। जो व्यक्ति केश धारण करके अपना दिखावा साधु के समान रखते हैं। असंयत होने पर भी अपने को संयत कहते हैं वे चिरकाल तक मरण और दुःख को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार पान किया हुआ कालकूट विष, उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र तथा वश में नहीं किया हुआ वेताल अपने को ही मार डालता है इसी प्रकार सांसारिक भोगों से युक्त धर्म सेवन करने वालों को नष्ट कर देता है।

उपरोक्त गाथाओं में यह अच्छी तरह बता दिया गया है कि इन्द्रियों के शान्त होने पर ही साधु बनने का विचार करना चाहिए। इसके बिना साधु बनना कालकूट विषपान, विपरीत शस्त्र धारण तथा बिना वश किए हुए वेताल को छेड़ना है। इन्द्रियों के शान्त होने पर जो वस्तु मोक्षदायिनी है, उसी को दूसरी अवस्था

में शास्त्रकार महा भयंकर बताते हैं। जो बालक दीक्षा लेते समय वासनाओं के स्वरूप को जानते ही नहीं तथा बड़े होने पर अतृप्त वासनाओं के वशीभूत होकर दुराचार फैलाते हैं वे आत्मपतन के साथ साथ समाज को भी रसातल में ले जाते हैं। शास्त्रों में उनके लिए 'ऋषिध्वज' शब्द दिया है। अर्थात् वे साधुपने का झण्डा लेकर फिरते हैं और अपने को संयमी कहते हैं। समझदार व्यक्ति खोटे सिक्के की तरह ऐसे व्यक्तियों का आदर नहीं करते। शास्त्र की ऐसी पुकार होने पर भी क्या हमारा समाज चेतेगा और वेशपूजा को छोड़कर गुणों की पूजा करना सीखेगा ?

बालदीक्षा के हिमायतियों का कहना है कि शास्त्रों में नौ वर्ष के बालक को दीक्षा देने की अनुमति है, उसे छोड़कर नई मर्यादा क्यों बनाई जाय ?

इसके उत्तर में कई बातें लिखी जा सकती हैं—

१. यह बात हम मानते हैं कि शास्त्रों में दीक्षार्थी की जघन्य आयु कुछ अधिक आठ वर्ष होना आवश्यक माना है किन्तु उसके साथ दूसरे भी बहुत से गुण बताए गए हैं। वे गुण आज कल के बालकों में नहीं आ सकते। चौथे उनके पवित्र वातावरण में भी ऐसा एक ही बालक हुआ है। वह उसी भव में मोक्ष जाने वाला था और भगवान महावीर स्वयं दीक्षा देने वाले थे। वे आगमविहारी थे। योग्यायोग्य का स्वयं विवेक कर सकते थे। दूसरे गुणों के न होने पर भी आजकल के बालकों को केवल आयु के आधार पर दीक्षा का अधिकारी मान लेना सर्वथा अनुचित है।

२. नौ वर्ष की आयु जघन्य आयु आयु है। जघन्य और उत्कृष्ट मार्ग का सेवन प्रायः अपवाद रूप से ही किया जाता है। उसे साधारण नियम बनाना ठीक नहीं है।

साधु लोग नौ दस वर्ष के बालक को नरक का भय बताते हैं। संसार की सभी बातों से घृणा उत्पन्न कर देते हैं। उसके हृदय में ऐसे बुरे संस्कार जमा देते हैं जिससे माता पिता तथा सभी सम्बन्धियों को वह द्वेष की दृष्टि से देखने लगता है। सभी रिश्तेदार उसे नरक में भेजने वाले दिखाई देते हैं। माता की ममता और पिता का वात्सल्य मधुमक्खी का छत्ता मालूम पड़ने लगते हैं। इस प्रकार सांसारिक कर्तव्यों के प्रति घृणा उत्पन्न करके वे उसे साधुत्व की ओर खींचते हैं। स्वर्ग के भोगों का लालच देते हैं। इस जन्म में भी मान प्रतिष्ठा का वर्णन करते हैं। बड़े बड़े करोड़पतियों और लखपतियों का पूज्य बनने की बात कह कर फुसलाते हैं। गरीब बालक को मेवे मिष्ठान्न तथा दूसरी वस्तुओं का लोभ दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि भोला बालक दीक्षा लेने के लिए तैयार हो जाता है। यदि मां बाप अड़चन डालते हैं और दीक्षा की अनुमति नहीं देते तो बालक को सत्याग्रह या कदाग्रह का पाठ पढ़ाया जाता है। वह तरह तरह के त्याग करके बैठ जाता है। मां बाप को आत्महत्या तथा दूसरी धमकियां देता है। बाहर भाग जाना तो मामूली सी बात है। इन सब कार्यों को करने के लिए साधु धर्म के दलाल रखते हैं। उस बालक पर ऐसा रंग चढ़ा दिया जाता है कि माता पिता परेशान हो जाते हैं। अन्त में विवश होकर उन्हें आज्ञा देनी पड़ती है। उस समय साधुजी अपनी सफाई पेश करते हैं कि माता पिता की आज्ञा के बिना हम किसी को दीक्षा नहीं देते। यह माता पिता की आज्ञा नहीं उनके दिल के टुकड़ों को जबर्दस्ती छीन लेना है।

यदि मां बाप गरीब हुए तो उन्हें रुपये का लालच दिया जाता है। उस समय कर्जा उतारने के बहाने या दूसरे तरीकों से रुपया देकर उनका मुंह बन्द कर दिया जाता है। अपने

शरीर तथा अपने लड़के लड़कियों का व्यापार करने वाले पुरुषों की कमी नहीं है।

कहा जाता है, उस बालके के मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। वैराग्य का अर्थ होता है कि किसी वस्तु के प्रति मोह का अभाव। वैरागी के लिए सांसारिक सम्बन्ध बन्धनरूप नहीं रहते। वह मोह में फंसा हुआ नहीं रहता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने कर्तव्य को भूल जाय। प्रेम, सहानुभूति आदि मानवोचित गुणों को खो दे। साधुओं द्वारा इस प्रकार घड़े गये वैरागी अपने हृदय में प्रेम के स्थान पर द्वेष को स्थान दे देते हैं। उन्हें साधुओं के सिवाय प्रत्येक व्यक्ति नरक का अग्रदूत दिखाई देने लगता है। वे माता पिता के प्रति अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। उन्हें छहकाया के जीवों से इतना स्नेह होता है कि उसके लिए माता पिता को दुःख देते हुए नहीं हिचकते। वे उन्हें छहकाया से बाहर समझते हैं। क्या भगवान महावीर वैरागी नहीं थे? उन्होंने माता पिता तथा भाई को दुःख कभी नहीं दिया।

साधु लोग बालकों को जम्बूस्वामी की ढाल सिखाते हैं। उसमें आता है—

एक लौटा पानी पीयूं माता, मांय ने बाप अनेक।
सगलां री दया पालरूं

उसे बताया जाता है कि एक लौटा पानी पीने में तुम अनेक मां बाप को पी जाते हो। साधु बनने के बाद जब उचित पानी पीओगे तो सब की दया पल जायगी। अनेक मां बापों को बचाने के लिए एक माता तथा एक पिता को कष्ट देना बुरी बात नहीं है।

इस प्रकार की शिक्षा जहां उपहासास्पद है, वहां बालक

के जीवन पर घातक असर करने वाली भी है। भला, उन साधुओं से पूछा जाय कि वे पानी पीते हैं या नहीं। यदि पीते हैं तो लोटे के मां बापों की रक्षा कैसे कर सकते हैं।

गरमकरके या दूसरे प्रकार से अचित्त किया हुआ पानी पीने से स्वयं निष्पाप रहने की कल्पना ऐसी ही है जैसे कोई व्यक्ति जीव हिंसा से बचने के लिये बाजार से मांस लेकर खाय और अपने को निर्दोष समझे। श्रावकों की भी क्या पड़ी है कि वे मां बापों को उबाल कर उनके कलेवर साधुओं को दे दें और साधुओं को दोषी बनाने का मिथ्या प्रयास करें।

दीक्षा लेने का निश्चय होने पर भी भगवान् महावीर माता पिता तथा भाई के कहने से कई वर्ष रुके रहे। उस अर्से वे कितने मां बाप तथा भाई पी गये होंगे ?

इस प्रकार की बातों से बालक का हृदय नीरस, शुष्क तथा कर्तव्य बुद्धि से हीन हो जाता है। उसे प्रत्येक कार्य पापमय दीखने लगता है। प्रत्येक स्थान पर नरक मुंह फाड़े दिखाई देती है।

अब हम आगे बढ़ते हैं। बालक मूंड लिया जाता है। साधु लोग पुत्रोत्सव मनाते हैं। नवदीक्षित को अच्छे अच्छे पदार्थ खाने के लिए देते हैं। उसकी सुविधा का पूरा ख्याल रखते हैं। समझते हैं, अब वह इस जीव का पूर्ण अभ्यासी हो गया। इस बात का कड़ा पहरा रखा जाता है कि वह साम्प्रदायिक वातावरण से बाहर न निकल सके। उसे इस प्रकार साहित्य भी नहीं पढ़ने दिया जाता, जिससे वह अपनी दृष्टि को विशाल बना सके।

कुछ दिन तो वह बालक साधु-जीवन को श्रद्धा और पवित्रता की दृष्टि से देखता है किन्तु धीरे धीरे विरक्ति होने लगती

है। वह गृहस्थी बालकों को अपनी इच्छापूर्वक हंसते-खेलते देखता है। उन्हें सुन्दर सुन्दर कपड़े पहिने हुए स्वतन्त्र विचरते देखता है। यदि कोई लड़की दीक्षित होती है तो अपनी सहेलियों को वधू के रूप में देखती है। स्नेह और सौन्दर्य की साक्षात्प्रतिमा के रूप में अपनी सहेली को देख कर उसके हृदय में भी गुदगुदी उठती है। उसके हृदय से आह निकल पड़ती है— यदि मैं भी इस आनन्द को प्राप्त कर पाती !

उस दिन से उस बालक और बालिका के लिए साधुत्व एक कारागार बन जाता है। उसे वे जीवन-कंद समझने लगते हैं। प्रतिदिन दर्शनार्थ आने वाले युवकों को वे भक्त के रूप में नहीं देखते। वे उन्हें ऐसे मालूम पड़ते हैं जसे ह..ारी इस दशा का उपहास कर रहे हों। मन में तरह तरह की इच्छाएं होती हैं, नई-नई तरंगें उठती हैं किन्तु जी मसोस कर रह जाना पड़ता है।

वे बहिनें जो संसार में प्रेम, नवजीवन तथा रस का सञ्चार करतीं — करुणा तथा दया की मूर्ति बन जाती हैं। वे अपने को उपेक्षित, तिरस्कृत, गर्हित तथा काराग्रस्त समझती हैं। जनता उनकी पूजा करती है वे उसे अपमान समझती हैं। अतृप्त वासनाओं के जागृत हो जाने के कारण वे प्रेम की पुजारिन बनना चाहती हैं। उन्हें ऐसा पुजारी अच्छा लगता है जो स्नेह से भरे हुए हृदय का दान कर सके। वे अपने को योगिनी नहीं वियोगिनी मानती हैं। अध्यात्म का सूना जगत उन्हें बुरा लगता है।

इस प्रकार की आकांक्षाएं पैदा होने पर यदि वह साधुत्व के बन्धन को तोड़ना चाहता है तो उसे कहीं स्थान नहीं दिखाई देता। पिता का द्वार उसके लिए बन्द है। जाति उसे नहीं अपनाती। समाज उसे बहिष्कृत समझता है। हार कर वह उसी जीवन को बिताने के लिए विवश हो जाता है।

समाज में साधुओं के लिए कोई परदा नहीं रहता। असूर्यम्पश्या भी साधु के पास बिना किसी शर्म तथा लज्जा के आ जा सकती है और उनसे घंटों बातें कर सकती है। साधुओं को पतन की सम्भावना से परे माना जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अतृप्त वासनाओं का पुतला समाज में दुराचार फैलाता ह। यदि इतना साहस न हुआ तो मन ही मन मधुर कल्पनाओं से अपने जीवन को बर्बाद कर लेता है। आजकल ऐसे साधु बहुत थोड़े मिलेंगे जो किसी न किसी भयङ्कर बीमारी से पीड़ित न हों। इन बीमारियों का मूल कारण मानसिक व्यभिचार है।

जिस साधु के मुख पर ब्रह्मचर्य का तेज दमकना चाहिए, उस पर हम मुर्दनी छाई हुई देखते हैं। जो शक्ति और साहस का अवतार होना चाहिए उसे—बात बात में धनवान् गृहस्थों की खुशामद तथा आजिजी करते देखते हैं। वे अपने को इतना विवश, पराधीन तथा अशक्त समझने लगे हैं कि गृहस्थों की गुलामी के बिना एक दिन भी कटना असम्भव हो जायगा। यह है हमारे साधु-समाज की दशा। यह हमारे धर्म के ठेकेदारों का हाल है। पीला बदन, आंखें अन्दर धंसी हुई, दुर्गन्धपूर्ण शरीर, गृहस्थों की गुलामी, लाचारी तथा निर्वीर्य होने वाले हमारे साधु-समाज का स्वरूप है। अतृप्त कामनाएं उनके शरीर तथा आत्मा को खोखला बना देती हैं।

बूढ़े साधु समझते हैं कि नवदीक्षित को मिष्टान्न देकर हम खुश कर लेते हैं, किन्तु उसकी अन्तरात्मा रोती है। एक तोते को सोने के पिंजरे में बन्द करके पारधि सोचता है कि मैंने उसे सुखी कर दिया, किन्तु तोता अपने साथियों को सैर विहार करते देख कर अकुलाता है। सोने के पिंजरे की अपेक्षा कंटीली झाड़ी उसे अधिक प्रिय मालूम होती है। उसका मन मधुर फल

और मेवों को छोड़ कर खट्टे बेरों के लिए मचल उठता है। वह अपने साथियों के साथ स्वच्छन्द विचरना चाहता है। यही दशा उस नवदीक्षित की होती है।

फिर भी वे लोग गृहस्थों के सामने साधुत्व का ढोंग रचते हैं। आत्मवञ्चना उनका स्वभाव बन जाता है।

साधु की क्रियाओं का उससे जबर्दस्ती पालन कराया जाता है। लोच के समय बहुत से बालक घबरा [illegible] हैं। अन्दर ही अन्द [illegible] लगते हैं। गुरु उन्हें [illegible] शब्दों से समझाते [illegible] गादि का उदा [illegible] धैर्य रखने का [illegible] दर्द होने [illegible] र मूंड डालते हैं। छह [illegible] क पर दया दिखाना पाप समझते हैं। यह उनको [illegible] है।

बहुत से व्यक्ति यह प्र[illegible] उठाते हैं कि यदि बालकों को साधु न बनाया गया तो सम्प्रदाय कैसे चलेगा। उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि साधुओं के सम्प्रदाय नहीं होते। वे तो विरले ही मिलते हैं। अतृप्त वासनाओं के पुतलों का सम्प्रदाय बनाने से समाज का कल्याण नहीं होता।

समाज हितैषियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए और और केवल साधुवेश तथा नाम के मोह में न पड़कर झूठे साधुओं का बहिष्कार कर देना चाहिए। अच्छे साधु दो चार भी समाज का बहुत बड़ा कल्याण कर सकेंगे।

कल्याण की तरफ बढ़ने का इन ढोंगियों की संख्या घटने का पहला कदम यह है कि ऐसे व्यक्तियों को दीक्षित न होने दिया जाय जिनके पतन की सम्भावना हो। जो व्यक्ति सांसारिक विषयों को भोगने के बाद उनसे ऊब जाते हैं वे ही सच्चे वैरागी हो

सकते हैं। बालकों का विराग तो सोई हुई आग है जो
पाकर अक्सर सुलग जाया करती है। इस लिए बालक
का अधिकारी नहीं हो सकता। यदि बालदीक्षा कानून
कर दी जाय तो साधुसंस्था तथा समाज में बहुत सुधार
है। इस से बालक के हितों की रक्षा तो होगी ही।

क्या समाज और राष्ट्र के नेता इधर ध्यान देने की कृ
करेंगे ?

अर्जुन प्रेस दिल्ली, में मुद्रित।